मंडी में मीडिया / विनीत कुमार,
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012, पृष्ठ 394,
मूल्य : ₹595 (सजिल्द), ₹275 (अजिल्द)

मीडिया तो मंडी में, लेकिन दर्शक कहाँ ?

तृप्ता शर्मा

उपग्रहीय टीवी पर प्रसारित होने वाले समाचार चैनलों को केंद्र में रखने वाली विनीत कुमार की पुस्तक *मंडी में मीडिया* सही समय पर प्रकाशित हुई है।[1] भारत में मीडिया एक बहुत बड़ा कारोबार बन चुका है। फिर भी मीडिया पर सवालिया निशान लगाना अभी तक पाठकों या दर्शकों की आदत का हिस्सा नहीं बन पाया है। विरोधाभास यह है कि एक ओर तो कारोबारी मीडिया मुनाफ़ाख़ोरी में बुरी तरह मुब्तिला है और उसका भ्रष्टाचार छन-छन कर बाहर आ रहा है, दूसरी ओर वह ख़ुद को लोकतंत्र का चौथा खम्भा या लोगों की आवाज़ साबित करने में लगा हुआ है। विनीत कुमार ने पत्रकारिता के अपने प्रशिक्षण और बड़े परिश्रम से किये गये अनुसंधान का सहारा लेकर इस विरोधाभासी प्रक्रिया को उघाड़ कर रख दिया है। यह कोई आसान काम नहीं था। इसलिए अपने इस प्रयास में सफलता के लिए वे बधाई के पात्र हैं।

विनीत का रवैया भारत में मीडिया पर किए जाने वाली पारम्परिक शोधों से बिल्कुल उल्टा है। हमारे ज़्यादातर अनुसंधानकर्त्ता मीडिया का विश्लेषण बहुधा नैतिकता के आईने में देख कर ही करते हैं। लेकिन विनीत की रचना मीडिया से संबंधित कारोबार, सरोकार, नागरिक, दर्शक, उपभोक्ता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सेंसरशिप जैसी अवधारणाओं तक मुनाफ़ाखोरी और मौक़ापरस्ती के प्रकरणों का उद्‌घाटन करने के रास्ते पहुँचती है। विनीत का प्रबल आग्रह है कि मीडिया-विश्लेषण की विवेचना और विश्लेषण को नैतिकता के ढाँचे से निकाल कर व्यवसायिक संदर्भों में ही की जानी चाहिए।[2] वे कहते हैं, 'यह किताब गर्दन की नसें फुला कर मीडिया के पक्ष में और उसके बेहतर

---

[1] विनीत कुमार, (2012), *मंडी में मीडिया,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

[2] कुछ हद तक यह काम प्रणंजय गुहा ठाकुरता और के.एस. रेड्डी द्वारा प्रेस परिषद के लिए तैयार की गयी पेड न्यूज़ की रिपोर्ट में भी किया गया है जहाँ इसे सीधे-सीधे आयकर नियमों और कंपनी एक्ट का उल्लंघन माना गया है। वही : 2. पेड न्यूज़ के लिए देखें http://www.scribed.com/doc/35436631/The-Buried-PCI-Report-on -Paid-News 12 दिसम्बर, 2012 को देखा गया।

इस किताब की दलील है कि पहले सरकार ने मीडिया का प्रयोग कर लोगों को भ्रम में रखा। अब ख़ुद मीडिया बाज़ार और सरकार का, यहाँ तक कि आंदोलनों का प्रयोग इस भ्रम को बनाए रखने में कर रहा है कि वही लोगों का सच्चा हितैषी है।

होने की दलील देने वाले ऐसे तमाम मीडियाकर्मियों के तर्कों को ख़ारिज करती है जो धंधे की गड़बड़ियों को नैतिकता की फूलझाड़ू से ठीक करना चाहते हैं।'[3]

मीडिया को सामाजिक सरोकारों और नैतिकता से जोड़कर देखने की दलील पारम्परिक उदारतावादी रवैये की देन है। इसके पीछे बहुत हद तक पुनर्जागरण के समय निभायी गयी मीडिया की भूमिका एक कारण की तरह मौजूद है। उस समय मीडिया ने धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध प्रचार में सहायता की थी जिससे उसकी साख लोकतंत्र और प्रगति के समर्थक की बन गयी थी। आज भी मीडिया को उसकी इस ऐतिहासिक भूमिका की रोशनी में ही परिभाषित किया जाता है।[4] अपनी इस भूमिका के कारण ही पारम्परिक उदारतावादी नज़रिया मुक्त बाज़ार आधारित मीडिया को लोकतंत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार मान कर चलता है। इस विचार के मुताबिक मीडिया जनमत-निर्माण, विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद, सरकार और नागरिकों के बीच कड़ी, विविध विचारों की अभिव्यक्ति और सबसे महत्वपूर्ण राज्य-व्यवस्था पर नज़र रखने की भूमिका निभाता है।[5] दूसरी ओर मार्क्सवादी और अन्य रैडिकल विद्वान हैं जो मीडिया का विश्लेषण राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि से करते हुए उसे प्रभुत्वशाली वर्ग का औज़ार करार देते हैं। उनके अनुसार मुक्त बाज़ार आधारित उदारवादी व्यवस्था में काम करने वाला निजी मीडिया केवल मुनाफ़ा देख कर ही काम करता है। चूँकि ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के लिए राजनीतिक संरक्षण आवश्यक है इसलिए मुख्यधारा का मीडिया कभी राज्य-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की बात नहीं करता और न ही उग्र रूप से राज्य का विरोध करता है।[6] यह आलोचना बताती है कि विज्ञापन मीडिया के मुनाफ़े का प्रमुख आधार है इसलिए वह दर्शक को लगातार उपभोक्ता बनाने की कोशिश करता रहता है। मुनाफ़े के लिए आवश्यक है कि मीडिया द्वारा प्रसारित विज्ञापन ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचे और इसके उपभोक्ताओं की रुचि को समान बनाना ज़रूरी है। यही कारण है कि मीडिया का रुझान अब अपने श्रोताओं और दर्शकों के अराजनीतिकरण की तरफ़ बढ़ गया है। मीडिया में मनोरंजन का आधिक्य भी इसी रुझान का परिणाम है।[7] वैश्वीकरण के समय में मीडिया के स्वामित्व और नियंत्रण के संदर्भ में लगातार बढ़ती इज़ारेदारी को भी यह राजनीतिक-आर्थिक नज़रिया रेखांकित करता है।

---

[3] विनीत कुमार (2012) : 12.

[4] एस. मैक ब्राग्ड (1980), *मेनी ऑसिस, वन वर्ल्ड : कम्युनिकेशन ऐंड सोसायटी टुडे ऐंड टुमॉरो,* एंकर प्रेस, न्यूयॉर्क.

[5] एस. होल्मर (1990), 'लिबरल कॉन्स्ट्रेंट्स ऑन प्राइवेट पॉवर? रिफ्लेक्शंस ऑन द ऑरिज़िन ऐंड रैशनेल एक्सेस रेग्यूलेशन', जे लिट्चनबर्ग (सम्पा.) *मास मीडिया ऐंड डेमॉक्रैसी,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क; डी. केली और आर. डॉनवे (1990), 'लिबरलिज़म एंड फ्री स्पीच', जे. लिट्चनबर्ग (सम्पा.), *मास मीडिया ऐंड डेमॉक्रैसी,* कैम्ब्रिज़ युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

[6] ई. हरमन और नोम चॉम्स्की (१९८८), *मैन्यूफैक्चरिंग कांसेट,* पैंथिअन प्रेस, न्यूयॉर्क; ऐन. चॉम्स्की (१९८९), *नेसेसरी इल्यूज़न : थॉट कंट्रोल इन डेमॉक्रैटिक सोसायटीज़,* प्लूटो प्रेस, लंदन.

[7] ई. हरमन और आर. मैक कैस्ने (१९९७), द *ग्लोबल मीडिया,* कॉसल प्रेस, लंदन; बी. बाग्रडिकियन, (१९८३), द *मीडिया मोनोपॅली,* बीकन प्रेस, बॉस्टन।

विनीत ने राजनीतिक-आर्थिक नज़रिए के मुताबिक़ ही अपने तर्क व्यवस्थित किये हैं और मुख्यधारा के मीडिया में व्याप्त भ्रष्टाचार पर चर्चा की है। इस किताब की दलील है कि पहले सरकार ने मीडिया का प्रयोग कर लोगों को भ्रम में रखा। अब ख़ुद मीडिया बाज़ार और सरकार का, यहाँ तक कि आंदोलनों का प्रयोग इस भ्रम को बनाये रखने में कर रहा है कि वही लोगों का सच्चा हितैषी है। विनीत यह कहते लगते हैं कि दर्शकों के पास मीडिया का कोई विकल्प नहीं है। दूसरी तरफ़ वे इस मान्यता की तरफ़ भी झुके हुए लगते हैं कि दर्शक मीडिया से पूरी तरह प्रभावित रहता है। मुनाफ़ाख़ोरी पर ज़ोर ने मीडिया को सामाजिक-सरोकारों से दूर कर दिया है लेकिन फिर भी वह स्वयं को सामाजिक सरोकारों का सबसे बड़ा पैरोकार दिखाता है। सूचना के प्रचार-प्रसार के संदर्भ में ऐसी स्थिति नागरिक अधिकारों के हनन की तरफ़ ही जा सकती है। संक्षेप में किताब का तर्क है कि मीडिया की प्रकृति पर न तो नागरिकों का कोई प्रभाव है और न ही उसकी रचना में उनकी कोई भागीदारी है। मीडिया का सारा कार्य-व्यवहार सिर्फ़ मुनाफ़े पर केंद्रित है। अपने इस तर्क को लेखक ने पाँच अध्यायों में विन्यस्त किया है।

पहले अध्याय में 'पब्लिक ब्रॉडकास्टिंग', सार्वजनिक प्रसारण के प्रभाव, विफलताओं, इस दौर में दर्शकों और नागरिकों का महत्व, ऑडियो-वीडियो कैसेट और केबिल संस्कृति के विस्तार की चर्चा है। लेखक ने केबिल संस्कृति के विस्तार को तकनीक व उदारतावादी व्यवस्था के साथ-साथ सार्वजनिक प्रसारण पर सरकारी नियंत्रण और उसके भ्रष्टाचार से जोड़ कर भी देखा है। इस अध्याय में आज़ादी से पहले और बाद में सार्वजनिक प्रसारण पर सरकारी नियंत्रण दिखाने के लिए कई उदाहरणों का सहारा लिया गया है। इसमें इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद सिख विरोधी प्रॉपेगेंडा सबसे उल्लेखनीय है। विरोधियों को ब्लैकलिस्ट करवाना या विरोध प्रदर्शनों के समय 'बॉबी' जैसी हिट फ़िल्में दिखाने की मिसालों के ज़रिये दूरदर्शन को 'सरकारी भोंपू' सिद्ध किया गया है। इस अध्याय में सार्वजनिक प्रसारण पर नियंत्रण के अलावा उसके भ्रष्टाचार की भी चर्चा की गयी है। अध्याय का शीर्षक 'पब्लिक ब्रॉडकास्टिंग : आपका काम हो जाएगा लेकिन ...' इसी भ्रष्ट चरित्र की तरफ़ इशारा करता है। लेखक का दावा है कि 'पेड कंटेंट' की जड़ें पब्लिक ब्रॉडकास्टिंग तक जाती हैं। फ़िल्मों के प्रसारण और चित्रहार के गानों के लिए होने वाले 'लेन-देन' से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। यह भी निकल कर आता है कि दूरदर्शन में व्याप्त भ्रष्टाचार ने कैसेट और केबिल संस्कृति को फलने-फूलने में सहयोग दिया था। ये दोनों ही माध्यम न केवल लोकप्रियता में बल्कि विश्वसनीयता में भी दूरदर्शन को पछाड़ रहे थे। इसी अध्याय का एक भाग मीडिया, दर्शक और नागरिकों के संबंध की भी विवेचना करता है। लेखक का तर्क है कि मीडिया सामाजिक विकासोन्मुखी न होकर मनोरंजन प्रधान होता जा रहा है और इसलिए उसकी दृष्टि में नागरिक से अधिक अहमियत दर्शक की है। ऐसी स्थिति में नागरिक की जगह दर्शक को देने वाला मीडिया ख़ुद को लोकतंत्र का चौथा खम्भा कैसे कह सकता है?

दूसरा अध्याय 'राडिया-मीडिया' मुख्यत: राडिया टेप प्रकरण में सामने आए मीडियाकर्मियों के नाम, निजी मीडिया का भ्रष्टाचार और मीडिया संबंधित स्वायत्त संस्थाओं द्वारा इस भ्रष्टाचार पर उठाये कदमों के इर्द-गिर्द घूमता है। इस अध्याय में थोड़ी चर्चा 'आभासी दायरे' (वर्चुअल स्पेस) पर भी हुई है लेकिन लेखक के मुख्य तर्क में इसकी भूमिका नगण्य ही है। यह अध्याय मुख्य रूप से दो प्रकरणों का वर्णन करता है। पहला, 'द संडे गार्जियन' द्वारा ऐनडीटीवी (न्यू डेलही टेलिविज़न) पर व्यावसायिक धोखाधड़ी के आरोप और दूसरा राडिया प्रकारण में वीर संघवी और बरखा दत्त जैसे पत्रकारों का नाम आने पर मीडिया की विश्वसनीयता पर बहस। इस अध्याय के अनुसार 'एक गुपचुप समझौते के तहत एक मीडिया संस्थान दूसरे मीडिया संस्थान की गड़बड़ी को प्रकाशित या

प्रभावित नहीं करेगा।'[8] यहाँ पर मीडिया से संबंधित संस्थाओं की भूमिका भी उजागर होती है जब वे दो आरोपी पत्रकारों के ख़िलाफ़ कार्यवाही न कर उनके बचाव में काम करती दिखती हैं। इन सब बातों का विश्लेषण करते हुए लेखक एक अहम सवाल उठाते हैं कि यदि मीडिया का उद्देश्य केवल विज्ञापन द्वारा मुनाफ़ा कमाना है तो सामाजिक सरोकारों के नाम पर उसे जो सुविधाएँ दी जाती है उन्हें बंद क्यों नहीं कर देना चाहिए ? यह सवाल मीडिया, राज्य और राजनीति के छिपे अनुद्‌घाटित गठजोड़ की तरफ़ इशारा करता है।

तीसरे अध्याय 'मीडिया एथिक्स' में मीडिया और विज्ञापन का संबंध और भी साफ़ हो जाता है। लेखक के अनुसार मुनाफ़े के लिए मीडिया केवल नैतिकता की ही नहीं बल्कि क़ानूनों की बलि भी चढ़ा सकता है। इंडिया टीवी भूत-प्रेत और निर्मल बाबा जैसे कार्यक्रमों के प्रसारण से लाइसेंस की शर्तों का खुला उल्लंघन करता है लेकिन सरकारें उस पर कोई कार्रवाई नहीं करती। दूसरी तरफ़ मीडिया, विज्ञापन और जन-संपर्क के आपस में जुड़ जाने से एक प्रकार की 'बार्टर' व्यवस्था का प्रचलन बढ़ा है इससे मीडिया की कमाई का अनुमान और भी मुश्किल हो गया है। इसे जानने का सरकार की ओर से कोई प्रयास भी नहीं है। कुल मिलाकर इस अध्याय में मीडिया सरकार और निजी क्षेत्र के गठजोड़ पर ही ज़्यादा प्रकाश डाला गया है।

चौथे अध्याय 'अर्णब स्प्रिंग' के केंद्र में अन्ना आंदोलन की ख़बरें और मीडिया का भ्रष्टाचार है। यहाँ लेखक ने अन्ना आन्दोलन के कवरेज को राडिया प्रकरण में खोयी मीडिया की वैधता और टीआरपी पाने के ज़रिये के रूप में ही देखा है। उसका विश्लेषण है कि सरकार और कॉरपोरेट क्षेत्र में से यदि चुनाव करना हो तो मीडिया सरकार के विरुद्ध जाएगा क्योंकि ऐसा करना उसकी छवि के लिए अच्छा है। दूसरे, कॉरपोरेट क्षेत्र मीडिया के लिए विज्ञापन का बहुत बड़ा स्रोत है। इसलिए जब भारतीय उद्योग जगत ने अन्ना आंदोलन का समर्थन किया तो पूरा मीडिया नयी ऊर्जा के साथ आंदोलन के समर्थन में कूद पड़ा।

पाँचवा अध्याय 'सेल्फ़ रेगुलेशन' की बहस पर के केंद्रित है। इस अध्याय में जस्टिस काटजू के मीडिया संबंधी वक्तव्य को आधार बनाया गया है। जस्टिस काटजू द्वारा मीडिया को 'जनविरोधी' कहे जाने पर पूरा मीडिया उनके विरोध और स्व-विनियमन के पक्ष में एक हो गया था। एक स्वर में दलील दी गयी थी कि मीडिया को सुधारने के लिए सरकारी नियंत्रण की नहीं स्व-विनियमन की ज़रूरत है। लेखक की मान्यता है कि किसी भी प्रकार का नियंत्रण मीडिया के मुनाफ़े पर मँडराता ख़तरा है। इसलिए मीडिया इस प्रकार के नियंत्रण का पुरज़ोर विरोध करेगा।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के मुनाफा-केंद्रित चरित्र को साबित करने के लिए लेखक ने बहुत से स्रोतों का उपयोग किया है। मैला-आंचल से लेकर विल्बर श्रैम तक के द्वितीयक स्रोत और फ़िक्की-केपीएमजी, टैम रिपोर्ट जैसे प्राथमिक स्रोतों का प्रयोग कर लेखक ने अपने तर्कों और विश्लेषणों को धारदार बनाने का सराहनीय प्रयास किया है। लेकिन अनुसंधान और विश्लेषण पद्धति के स्तर पर किताब कोई ख़ास प्रयोगधर्मी नहीं है। ज़्यादातर विवरणात्मक शैली का ही इस्तेमाल किया गया है। इससे पुस्तक की रोचकता में तो इज़ाफा हुआ है लेकिन दूसरी तरफ इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री की मदद से मीडिया में भ्रष्टाचार से संबंधित मुद्दों और विवरणों को ज़्यादा बड़ी बहसों में स्थापित करने के अवसर से लेखक ने ख़ुद को वंचित कर लिया है। उदाहारण के तौर पर मीडिया के मनोरंजन प्रधान होने की बात करते वक़्त लेखक उसके कारणों पर हुई बहसों की तरफ़ भी ध्यान खींच सकते थे। हरमन मैक केस्ने और रेमंड विलिय स जैसे विद्वान ऐसा कर चुके हैं। या फिर सामाजिक सरोकारों

---

[8] विनीत कुमार (2012) : 123.

की चर्चा करते हुए वे इसके महत्त्व और कारणों की चर्चा कर सकते थे। यदि लेखक पुनर्जागरण से लेकर नवउदारतावादी व्यवस्था के बीच मीडिया के चरित्र की यात्रा का उल्लेख करने के साथ-साथ विचारधाराओं के साथ मीडिया के संबंधों पर थोड़ी बात करते तो मीडिया का भ्रष्टाचार और उसे मिलने वाले राजनीतिक संरक्षण को और अधिक स्पष्टता से दिखाया जा सकता था।

विनीत का विश्लेषण मीडिया पर सरकार-कॉरपोरेट प्रभाव और मीडिया की मुनाफ़ाख़ोरी की तरफ़ तो हमारा ध्यान खींचता है, लेकिन मीडिया की कार्य-शैली, साख बनाये रखने की उसकी व्यावसायिक विवशता और दर्शक पर पड़ने वाले उसके प्रभावों को पूर्णत: नज़रअंदाज़ कर देता है। नतीजे के तौर पर यह किताब मीडिया-संसार के अंदर घट रही हर बात की तो गहराई से पड़ताल करती है, लेकिन मीडिया के बाहरी दुनिया से संबंधों की पेचीदगियाँ नहीं दिखा पाती। लेखक की ओर से तर्क दिया जा सकता है कि इन सब बातों का उल्लेख इस किताब के दायरे में नहीं आता, लेकिन मीडिया का बाहरी दुनिया यानी दर्शकों से संबंधित शोध और उपागमों पर ध्यान न देने से ख़ुद किताब में दिये गये उदाहरणों में विसंगतियाँ या विरोधाभास दिखने लगते हैं। मसलन, लेखक का तर्क है कि लोगों के पास मीडिया द्वारा दिखायी गयी जानकारी पर विश्वास करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है और उसकी सामग्री तय करने में उनकी कोई ख़ास भूमिका नहीं होती। इस बात को वे ब्रिटिशकालीन रेडियो की भूमिका का उल्लेख करते हुए सिद्ध करते हैं। उस समय लोग रेडियो के माध्यम से जुड़े रहे जबकि कंटेट के रूप में वह उनके ख़िलाफ़ ही काम कर रहा था। लेकिन यही वह समय है जब राष्ट्रवादी आंदोलन भी सक्रिय था और एक बड़ी जनसंख्या को प्रभावित कर रहा था। यदि माध्यम का प्रभाव उतना ही होता जितना लेखक बताना चाहते हैं तो अंग्रेज़ों का रेडियो राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार को सीमित क्यों नहीं कर पाया? अथवा, क्या आज हम कह सकते हैं कि जिन लोगों की पहुँच रेडियो तक थी वे राष्ट्रवादी आंदोलन का हिस्सा नहीं थे?

लेखक ने पब्लिक ब्राडकास्टिंग के दौर में राजीव गाँधी की जीत का पूरा श्रेय सरकारी टेलीविज़न और निजी कम्पनियों द्वारा जारी किये गये कांग्रेस के विज्ञापनों को दिया है। यह सही है कि चुनावी प्रचार के लिए राजीव गाँधी ने जिस प्रकार टीवी का सहारा लिया वो अभूतपूर्व था। लेकिन अगर सिर्फ़ इतने से राजीव गाँधी बहुमत प्राप्त कर सकते थे तो 'इंडिया शाइनिंग' के प्रचार से भारतीय जनता पार्टी भी बहुमत का आँकड़ा छू सकती थी। 'इंडिया शाइनिंग' भाजपा को विजयी बनाने में उस समय असफल रहा जब मीडिया का भारतव्यापी प्रसार १९८० के दशक के मुक़ाबले कहीं अधिक था। इससे स्पष्ट है कि लोग सदैव मीडिया द्वारा प्रचारित सूचनाओं का विश्वास नहीं करते, चाहे वह उनके सूचना-प्राप्ति का एकमात्र स्रोत ही क्यों न हो।[9] इस तरह के उदाहरणों का प्रयोग करते समय यदि लेखक ने अभिग्रहण सिदांत (रिसेप्शन थियरी) पर भी ध्यान दिया होता तो उनका विश्लेषण अधिक प्रभावी हो सकता था।

लेखक ने पब्लिक ब्राडकास्टिंग के दौर में राजीव गाँधी की जीत का पूरा श्रेय सरकारी टेलीविज़न और निजी कम्पनियों द्वारा ज़ारी किये गये कांग्रेस के विज्ञापनों को दिया है। ... लेकिन अगर सिर्फ़ इतने से राजीव गाँधी बहुमत प्राप्त कर सकते थे तो 'इंडिया शाइनिंग' के प्रचार से भारतीय जनता पार्टी भी बहुमत का आँकड़ा छू सकती थी।

लेखक ने कहा है कि पब्लिक ब्रॉडकास्टिंग का उद्देश्य मुनाफ़ा कमाना न हो कर सामाजिक विकास के कार्यक्रमों का

---

[9] एस. नैनन (1998), 'ट्रांसफॉर्मिंग टेलिविज़न इन इंडिया', एवरइट ई. डेनिस और रॉबर्ट डबल्यू. सिंडर (सम्पा.), *मीडिया ऐंड डेमॉक्रैसीज़,* ट्राँजेक्शन प्रेस, न्यू जर्सी.

प्रचार-प्रसार करना था। अत : उसे लाभ की दृष्टि से न देखकर सामाजिक विकास के माध्यम के रूप में देखा जाना चाहिए था। लेकिन पब्लिक ब्राडकास्टिंग सिस्टम ने सामाजिक संदर्भों को अपना आर्थिक नुक़सान ढँकने वाला नैतिकता का मुखौटा बना लिया। इसके साथ ही लेखक ने यह भी बताया है कि सार्वजनिक प्रसारण व्यवस्था के तहत प्रसारित होने वाले ज्ञान और सामाजिक विकास आधारित बहुत से कार्यक्रम बंद करने पड़े क्योंकि उनकी दर्शक संख्या कम थी। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि ज्ञानवर्धन या सामाजिक विकास के कार्यक्रम बंद करके जो मनोरंजन आधारित कार्यक्रम शुरू किये गये थे, उन्हें बंद करने की नौबत नहीं आई।

इंडिया टीवी के रजत शर्मा के साक्षात्कार के ज़रिये किताब दिखाती है कि सरोकारों की पत्रकारिता बिकती नहीं। जब तक उनका चैनल सामाजिक सरोकारों से जुड़ी ख़बरें दिखा रहा था न तो दर्शक आकर्षित हो रहे थे, न ही विज्ञापन। ये सब छोड़कर जब चैनल अपने वर्तमान कलेवर में आया तो भारत में देखा जाने वाला नंबर एक चैनल हो गया। रजत शर्मा के साक्षात्कार से दो प्रश्न उठते हैं जिन पर विनीत एक बड़ी बहस की शुरूआत कर सकते थे। पहला, क्या कारण है कि सरोकारों की पत्रकारिता को दर्शक नहीं मिलते? ऐसा क्यों हैं कि भूत-भभूत और निर्मल बाबा पर दिखाये गये कार्यक्रम टीआरपी में सबसे आगे पहुँच जाते हैं? इन दोनों ही बातों की व्याख्या और विश्लेषण केवल मीडिया के भ्रष्टाचार पर केंद्रित करने से नहीं हो सकती। इसके साथ ही किताब में इस बात पर भी चर्चा की जा सकती थी कि आख़िर किस दौर में सरोकारों की पत्रकारिता बिकती थी। अर्थात मुख्यधारा मीडिया ने भारत में किस दौर में एक मिशन या सामाजिक सरोकारों के समर्थक के रूप में काम किया है? लेखक ने भारतेंदु का ज़िक्र भर किया है लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि किस आधार पर वे भारतेन्दु की पत्रकारिता को मुख्यधारा की पत्रकारिता मान रहे हैं। यही बात राष्ट्रवादी प्रेस पर भी लागू होती है। यदि लेखक राष्ट्रवादी पत्रकारिता को मुख्यधारा की पत्रकारिता मान कर चल रहे हैं तो उन्हें इसके कारण स्पष्ट कर देने चाहिए थे क्योंकि कम से कम प्रचार और विचारधारा की दृष्टि से औपनिवेशिक भारत में की जाने वाली यह पत्रकारिता वैकल्पिक पत्रकारिता की श्रेणी में आती है, जिस पर बहुधा राज्य के प्रकोप का ख़तरा मँडराता रहता था। इसी मुक़ाम पर चॉम्स्की, मैक केस्ने और बाग्रडिकियन के तर्क याद आते हैं कि दरअसल वैकल्पिक मीडिया ही सामाजिक परिवर्तन और सरोकारों का पैरोकार हो सकता है, क्योंकि उसके हित विज्ञापनदाताओं से जुड़े नहीं होते इसलिए वह मुख्य-धारा के मीडिया से कहीं अधिक स्वतंत्रता से अपनी बात रख सकता है।

किताब में एक दूसरी विसंगति 'विज्ञापन के व्याकरण' की व्याख्या करते हुए दिये गये उदाहरणों में है। लेखक का प्रमुख तर्क है कि मीडिया सिर्फ़ मुनाफ़ाख़ोरी का धंधा है। अत: विज्ञापन मीडिया के लिए सर्वोपरि है। मीडिया की हर बात को विज्ञापन से जोड़ते हुए जब किताब में दलील दी गयी है कि क्रिकेट मीडिया को इसलिए ज़्यादा पसंद है क्योंकि उसमें विज्ञापन दिखाने को सम्भावना अधिक रहती है। यहाँ विनीत इस तथ्य को नज़रअंदाज़ कर देते हैं कि विज्ञापन के आक्रमण से पहले भी क्रिकेट भारत में एक लोकप्रिय खेल था। बड़ा मैदान, खिलाड़ियों के उपयोग का सामान और स्कोरबोर्ड इत्यादि की चर्चा जब लेखक विज्ञापन के स्थानों के रूप में करते हैं तो उससे ये स्पष्ट नहीं होता कि हॉकी और फुटबॉल जैसे खेलों में भी विज्ञापनों के लिए लगभग इतने ही स्थानों के रहने के बावजूद न तो ये खेल भारत में क्रिकेट जितने लोकप्रिय हो पाते हैं, और न ही मीडिया के प्रिय।

धारावाहिक 'शांति' का उल्लेख करते हुए विनीत की दलील है कि इसे विज्ञापन मिल रहे थे इसलिए घटती लोकप्रियता और टीआरपी के बावजूद इसे चलाया जाता रहा। टीआरपी से संबंधित सामान्य समझ यह है कि टीआरपी और विज्ञापनों का सीधा संबंध है। बढ़ती टीआरपी का तात्पर्य बढ़ती लोकप्रियता और अधिक अथवा महँगे विज्ञापन होता है। लेकिन 'शांति' के संबंध में यह तर्क

लागू नहीं दिखता। यदि कारणों पर थोड़ी चर्चा किताब में हो पाती तो स्वयं लेखक अपने तर्क को ज़्यादा धारदार तरीक़े से रख सकते थे। किताब में दी गयी स्व-विनिमय की बहस को भी व्यापक संदर्भ में रखा जा सकता था। पब्लिक ब्राडकास्टिंग के सरकारी भोंपू होने और उसे आकंठ भ्रष्टाचार में लिप्त सिद्ध करने के बावजूद विनीत श्रवण गर्ग और अनंत बांदेकर के वक्तव्यों का प्रयोग कर मीडिया पर बाहरी नियंत्रण का समर्थन करते दिखते हैं। यह जानते हुए भी कि पेड न्यूज़ का सारा मामला प्रेस कौंसिल ऑफ़ इंडिया के रहते हुए सामने आया और इस पर लायी गयी ठाकुरता और रेड्डी की रपट को कौंसिल ने स्वयं ही लगभग दबा दिया, लेखक का यह झुकाव थोड़ा आश्चर्यजनक लगता है। इसके अलावा सरकारी नियंत्रण बनाम स्व-विनियमन की बहस सिर्फ़ मुनाफ़े पर क़ब्ज़े की बहस नहीं है। यह सेंसरशिप और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच का विवाद है। इस बात को दरकिनार नहीं किया जा सकता कि प्रेस काउंसिल को मीडिया काउंसिल बनाकर ज़्यादा अधिकार देने से सूचना प्रसारण पर सरकारी नियंत्रण बढ़ जाएगा जिसके ख़तरे स्वयं लेखक ही अपने पहले ही अध्याय में गिनवा चुका है।

नागरिक, दर्शक और मीडिया के संबंधों के विषय में भी विनीत का दृढ़ विश्वास है कि मीडिया ने तेज़ी से राजनीतिक क्षेत्र के आर्थिकीकरण का काम किया है और नागरिकों को कोई भी सहभागिता न देते हुए उन्हें दर्शक में बदल दिया है। यह धारणा न केवल एकतरफ़ा लगती है, बल्कि मीडिया-संस्कृति के लिहाज़ से किये जाने वाले अध्ययनों को पूरी तरह नज़रअंदाज़ करने का परिणाम ही जान पड़ती है। मीडिया पर हुए बहुत से अध्ययन बताते हैं कि जिसे राजनीतिक-आर्थिक दृष्टिकोण से किया गया अनुसंधान जिसे राजनीतिक क्षेत्र का आर्थिकीकरण सिद्ध करता है, वह आर्थिक क्षेत्र का राजनीतिकरण भी है।[10] हमारे पास ऐसा कोई शोध नहीं है जिससे सिद्ध किया जा सके कि जब लोग टीवी पर टाटा चाय का 'जागो रे' विज्ञापन देखते हैं तो चाय खरीदने का संदेश ग्रहण करते हैं या देश को जगाने का या महिलाओं में पुरुषों से अधिक सामाजिक बोध होने का। विज्ञापनों में महिलाओं के वस्तुकरण और महिला सशक्तीकरण की बहस नारीवादी विमर्श का महत्त्वपूर्ण अंग है। इससे स्पष्ट है कि मीडिया से संदेश ग्रहण करते समय दर्शक कब उपभोक्ता होते हैं और कब नागरिक या कब संदेश से निर्लिप्त रहते हैं, यह जानना बहुत कठिन है और इनमें से किसी को भी उनकी स्थायी अवस्था मानकर नहीं चला जा सकता।

दूसरे, ख़ुद लेखक द्वारा प्रयोग किये गये बहुत से उदाहरण राजनीतिक-आर्थिक दृष्टिकोण से उपजने वाली दलीलों को काटते प्रतीत होते हैं। उनसे मुक्त बाज़ार व्यवस्था की विवशता या विशेषता की तरफ़ इशारा होता हैं।[11] ये उदाहरण किताब में प्रस्तुत दलील का भी खंडन करते दिखते हैं कि मीडिया में अपनी गड़बड़ियाँ सामने न लाने की एक आम सहमति या प्रच्छन्न समझौता काम करता है। ऐनडीटीवी और द *संडे आब्जर्वर* के बीच व्यावसायिक गड़बड़ियों को लेकर छिड़ा विवाद हो या फिर *ओपन* पत्रिका और ऐनडीटीवी के बीच राडिया प्रकरण में बरखा

नागरिक, दर्शक और मीडिया के संबंधों के विषय में भी विनीत का दृढ़ विश्वास है कि मीडिया ने तेज़ी से राजनीतिक क्षेत्र के आर्थिकीकरण का काम किया है और नागरिकों को कोई भी सहभागिता न देते हुए उन्हें दर्शक में बदल दिया है। यह धारणा एकतरफ़ा लगती है...

---

[10] के. पी. श्रॉडर (2007), 'मीडिया डिस्कोर्स ऐनालिसिस : रिसर्चिंग कल्चरल मीनिंग्स फ्रॉम इनशेप्सन टू रिसेप्शन', *टेक्सचुअल कल्चर,* खंड 2, अंक 2.

[11] उदारतावादी व्यवस्था में जहाँ एक ओर इसे विचारधारा की विशेषता के रूप में रेखांकित किया गया है वहीं दूसरी ओर इसे बाज़ार की विवशता के रूप में भी देखा गया है।

दत्त की भूमिका को लेकर बहस हो, ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि यह तर्क पूरी तरह सही नहीं है। गलाकाटू प्रतियोगिता के दौर में जब एक मीडिया संस्थान ज़्यादा मुनाफ़े के बारे में सोचेगा तो उसे अपनी सही छवि और दूसरी संस्थाओं की गिरती साख का सहारा लेना ही पड़ेगा। अत: जिस आम सहमति की विनीत बात कर रहे हैं भविष्य में उसके टूटते जाने के आसार ही अधिक हैं। दूसरी ओर भारतीय मीडिया संसार में राज्यसभा-लोकसभा टीवी भी शामिल हैं जो निजी चैनलों के बारे में बहुत हद तक विश्लेषणात्मक रवैया रखते हैं। इन चैनलों पर अर्णब गोस्वामी के व्यवहार की भी चर्चा होती है और टीवी-18 और रिलायंस के समझौते से मीडिया पर पड़ने वाले प्रभाव की भी। ऐसे मुद्दों को उठा कर न केवल लोक सभा टीवी चैनल आम-सहमति की धारणा पर प्रश्नचिह्न लगा रहा है, बल्कि पब्लिक ब्रॉडकास्टिंग के महत्त्व की तरफ़ भी इशारा कर रहा है। इसके विपरीत *द हिंदू* और *पायनियर* जैसे अख़बार सरकारी मीडिया में व्याप्त भ्रष्टाचार को लगातार सामने ला रहे हैं। स्वयं लेखक ने इन सब उदहारणों की चर्चा इसी किताब में की है जिससे आमसहमति के तर्क पर कई खरोंचें किताब में ही दिखने लगती हैं।

यह बात राजनीतिक-आर्थिक दृष्टिकोण के तर्क कि मीडिया और राज्य-व्यवस्था के हित एक ही होते हैं, पर भी प्रश्न उठाती है। दरअसल इस किताब में जिस अभिजन या शासक वर्ग का विनीत ज़िक्र कर रहे हैं, वह एकाश्म नहीं है। इन सब विरोधाभासों के अलावा किताब में कई ऐसे उदहारण भी हैं जिन्हें काफ़ी चलताऊ ढंग से रख दिया गया है। जैसे 'हम लोग' धारावाहिक का मैगी द्वारा प्रायोजन, जिसमें मैगी को मिले पाँच मिनट के विज्ञापन को आधार बना कर लेखक का कहना कि आज लोगों को 'हम लोग' से ज़्यादा मैगी याद है और नयी पीढ़ी को तो बस मैगी ही याद है, थोड़ा हास्यास्पद लगता है। इस तरह का तर्क न केवल आधारहीन है बल्कि खुद किताब के तर्क-प्रवाह को भी बाधित करता है।

किताब में सामग्री के विन्यास में भी दो-तीन बातों का ध्यान रखा जा सकता था। पहली बात काल-क्रम को लेकर है जो मुख्यत: पहले अध्याय पर लागू होती है। यहाँ मीडिया को उद्योग का दर्ज़ा, प्रसार भारती का निर्माण, ब्रिटिश प्रॉपेगंडा, इंदिरा गाँधी की मृत्यु और दूरदर्शन सब आगे-पीछे घूमता रहता है। इसे पहली बार पढ़ने पर थोड़ी परेशानी होती है। ज़ाहिर है कि यह अध्याय एक साथ बहुत सी चीज़ों पर बात कर रहा है लेकिन इन सब चीज़ों को अलग हिस्सों में बाँट देने से शायद यह अधिक पठनीय हो जाता। उदहारणार्थ कंटेंट और ऑडिएंस की चर्चा को अलग हिस्से में दिया जा सकता था जिसमें औपनिवेशिक भारत से लेकर अब तक के दर्शकों और श्रोताओं की स्वायत्तता पर चर्चा हो सकती थी। यहाँ पर शायद 'रवीश की रिपोर्ट' वाले हिस्से को ज़्यादा बेहतर ढंग से रखा जा सकता था। ऐसा न करने के कारण इस हिस्से ने अपना महत्त्व लगभग खो दिया है। दूसरे, यदि किताब की विषय-वस्तु को थोड़ा खोलकर लिखा जाता तो किताब के अंदर झाँकने में पाठकों को थोड़ी सुविधा होती। तीसरे, किताब को पढ़ते समय अनुक्रमणिका (इंडेक्स) की कमी खलती है। पाँच सौ से आधिक प्रष्ठों की किताब मात्र पाँच अध्यायों में विभाजित है। ऐसे में कुछ भी विशेष ढूँढ़ने के लिए पूरा अध्याय उलटना पड़ता है

कुल मिलाकर यह किताब जब मीडिया की मुनाफ़ाख़ोरी और भ्रष्टाचार की बात करती है या मीडिया को समझने या किसी सीमा तक नियंत्रित करने के लिए स्व-विनियमन या नैतिकता की नहीं बल्कि व्यावसायिक क्षेत्र के नियमों का पालन करने की ज़रूरत दिखाती है; या फिर राडिया प्रकरण जैसे चुनिंदा उदाहरणों का ज़िक्र करते हुए जब यह किताब मीडिया की आम-सहमति की बात करती है तब पूरी तरह तार्किक लगती है। लेकिन जहाँ भी ये किताब मीडिया और दर्शक से संबंधित उदाहरणों का प्रयोग करती है वहाँ कई बार लेखक के विश्लेषण में एक प्रकार का अतिसरलीकरण साफ़ झलकता है।

संदर्भ

आर. मैक कैस्ने (2008), 'पॉलिटिकल इकनॉमी ऑफ़ मीडिया', *मंथली रिव्यू प्रेस,* न्यूयॉर्क.

ई. हरमन और नोम चॉम्स्की (1988), *मैन्यूफ़ैक्चरिंग कंसेंट,* पैंथिअन प्रेस, न्यूयॉर्क.

ई. हरमन और आर. मैक कैस्ने (1997), द *ग्लोबल मीडिया,* कॉसल प्रेस, लंदन.

एस. मैक ब्राग्ड (1980), *मेनी ऑसिस, वन वर्ल्ड : कम्युनिकेशन ऐंड सोसायटी टुडे ऐंड टुमॉरो,* एंकर प्रेस, न्यूयॉर्क.

ऐन. चॉम्स्की (1989), *नेसेसरी इल्यूज़न : थॉट कंट्रोल इन डेमॉक्रैटिक सोसायटीज़,* प्लूटो प्रेस, लंदन.

एस. नैनन (1998), 'ट्रांसफॉर्मिंग टेलिविज़न इन इंडिया', एवरइट ई. डेनिस और रॉबर्ट डब्ल्यू. सिंडर (सम्पा.), *मीडिया एंड डेमॉक्रैसीज़,* ट्राँज़ेक्शन प्रेस, न्यू जर्सी.

एस. होल्मर. (1990), 'लिबरल कॉन्स्ट्रेंट्स ऑन प्राइवेट पावर? रिफ्लेक्शंस ऑन द ऑरिज़न एंड रेशनेल एक्सेस रेग्यूलेशन', जे लिट्चनबर्ग (सम्पा.) *मास मीडिया ऐंड डेमॉक्रैसी,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

के.पी. श्रॉडर (2007), 'मीडिया डिस्कोर्स ऐनालिसिस : रिसर्चिंग कल्चरल मीनिंग्ज़ फ्रॉम इंसेप्शन टु रिसेप्शन', *टेक्स्चुअल कल्चर,* खंड 2, अंक 2.

डी. केली और आर. डॉनवे (1990), 'लिबरलिज़म एंड फ्री स्पीच', जे. लिट्चनबर्ग (सम्पा.), *मास मीडिया ऐंड डेमॉक्रैसी,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

पेड न्यूज़ रिपोर्ट, http://www.scribed.com/doc/35436631/The-Buried-PCI-Report-on -Paid-News 12 दिसम्बर 2012 को देखा गया।

विनीत कुमार (2012), *मंडी में मीडिया,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.